ट्राईकन हस्तक्षेप

एशिया संबंधी समग्र विश्लेषण

क्या एशिया अब भी एक संभावना है?

12 नवम्बर 2025 | संख्या 8

क्या एशिया अब भी एक संभावना है?

12 नवम्बर 2025

आज एशिया महज़ एक भौगोलिक अवधारणा बनकर रह गया है। यह जापान के एक छोर से लेकर लेबनान के दूसरे छोर तक फैला विशाल भूभाग है, जो लगता है कि तनाव से फटने वाला है। एशिया में ग्यारह टाइम जोन हैं और पृथ्वी की कुल ज़मीन का लगभग एक तिहाई हिस्सा एशिया में है। यह दुनिया का सबसे बड़ा महाद्वीप है।

लेकिन यह भौगोलिक सीमा भी स्पष्ट नहीं है। रूस एशिया का सबसे बड़ा देश है; यह चीन से लगभग दोगुना बड़ा है। फिर भी, रूस को एशिया का हिस्सा मानने की बात बहुत कम लोगों के ज़हन में आती है। हालाँकि रूस का तीन-चौथाई से भी अधिक हिस्सा एशिया में स्थित है। आमतौर पर इसे एक यूरोपीय देश या एक यूरेशियाई देश माना जाता है। इसकी एक बड़ी वजह यह है कि रूस की तीन-चौथाई आबादी यूराल पर्वत के पश्चिम में रहती है, जो एशिया और यूरोप के बीच पारंपरिक विभाजन रेखा है। यूक्रेन युद्ध के दौरान, वैश्विक उत्तर ने रूस पर प्रतिबंध बढ़ाए। परिणामस्वरूप उसका झुकाव यूरोप से हटा और एशिया से निकटता बढ़ी। चीन के साथ 'नो लिमिट' साझेदारी और अन्य एशियाई देशों के साथ बढ़ते व्यापार ने दुनिया में रूस की स्थिति बदल दी (चीन अब रूस का सबसे बड़ा व्यापारिक साझेदार है)। लेकिन फिर भी रूस पूरी तरह से एशिया का हिस्सा नहीं बन पाया है।

फिलिस्तीन से लेकर अफगानिस्तान की सीमा तक, पश्चिमी एशिया का बड़ा हिस्सा आमतौर पर एशिया नहीं बल्कि मध्य पूर्व (मिडिल ईस्ट) के रूप में जाना जाता है। यह बात अरब प्रायद्वीप पर भी लागू होती है। मोरक्को से लेकर ईरान तक के इस क्षेत्र को अफ्रीकी और एशियाई महाद्वीप का हिस्सा न मानकर, इसे ओरिएंट, नियर ईस्ट, मिडिल ईस्ट, मेना (MENA) जैसी भू-राजनीतिक अवधारणाओं के रूप में परिभाषित किया जाता है। इस तरह से उत्तरी अफ्रीका को उप-सहारा अफ्रीका से अलग करके देखा जाता है तथा पश्चिमी एशिया को विशाल एशियाई भूभाग के बाकी हिस्सों से अलग माना जाता है।

हिमालय एक विशालकाय दीवार की तरह है जिसने सदियों से भारत और चीन के बीच विचारों व रीति-रिवाजों के आदान-प्रदान को रोके रखा है। बौद्ध धर्म के अनुयायियों को चीन और जापान तक पहुँचने के लिए अफगानिस्तान से होकर गुजरना पड़ा था। वे आसानी से पहाड़ों को पार नहीं कर सकते थे। लेकिन बौद्ध भिक्षुओं ने इस लंबे रास्ते पर चल कर दोनों महान सभ्यताओं के बीच व्यापार और बौद्धिक आदान-प्रदान के रास्ते खोले। इनकी यात्राओं के रिकॉर्ड भी मिलते हैं, जैसे भारत से कुमारजीव (350 से 409 ईस्वी) और बोधिधर्म (5वीं

से 6वीं शताब्दी), तथा चीन से झांग कियान (दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व), ह्वेनसांग (602-664 ईस्वी) और फाहियान (337 से 422 ईस्वी) के यात्रा वृतान्त। उन्होंने न सिर्फ रेशम और मसालों का व्यापार किया, बल्कि गणित, खगोल विज्ञान, चिकित्सा और सैन्य प्रौद्योगिकी के विकास में भी योगदान दिया।[1]

एशिया के कुछ देश – जैसे भारत – अपने आप में एक महाद्वीप हैं, जहाँ सैकड़ों भाषाएँ बोली जाती हैं और हजारों संस्कृतियाँ बसती हैं। [2]वहीं अन्य देश – जैसे इंडोनेशिया – सैकड़ों द्वीपों में बँटे हैं, जो एक छोर से दूसरे छोर तक 5000 किलोमीटर से अधिक में फैले हैं। पृथ्वी का सबसे ऊँचा स्थान (माउंट एवरेस्ट) एशिया में है और पृथ्वी का सबसे निचला स्थान (मृत सागर) भी एशिया में है। प्राचीन समय में मंगोल लोग उव्स नूर बेसिन से डॉन नदी तक स्टेपी के मैदानों में चार हज़ार किलोमीटर तक की सवारी करते होंगे। वे इस यात्रा में तरह-तरह के लोगों के बीच से गुज़रते होंगे, जो तरह-तरह की भाषाएँ बोलते थे, तरह-तरह की फसलें उगाते थे, और जीवन व मृत्यु के बारे में तरह-तरह के सपने पालते थे। मंगोल नहीं जानते थे कि वे पूरे एशिया में सैर कर रहे थे।[3]महाद्वीप तो ज्यों का त्यों था, लेकिन उसे महाद्वीप के रूप में एक इकाई की तरह देखने की चेतना आधुनिक समय में बनी।[4]

'एशिया' को एक साधारण शब्द, एक ऐसे शब्द के रूप में देखना असंभव है जो किसी निश्चित चीज़ को दर्शाता हो। 'एशिया' शब्द की उत्पत्ति के पीछे सैकड़ों कहानियाँ बताई जाती हैं, जिनमें से ज़्यादातर प्राचीन यूनानियों गोथ लोगों (पूर्वी जर्मनी मूल के प्राचीन लोग, जिन्होंने तीसरी से पांचवीं शताब्दी के बीच रोमन साम्राज्य के पतन और मध्ययुगीन यूरोप के उदय में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।) से जुड़ी हैं। ये कहानियाँ महाद्वीप के भीतर नहीं मिलतीं। एक असीरियन (Assyrian) लकड़ी का स्तंभ मिलता है, जिसपर असीरिया के पश्चिमी हिस्से (एरेब) को 'सूर्यास्त का देश' और पूर्वी हिस्से (असू) को 'सूर्योदय का देश' बताया गया है।[5] असीरिया के लोगों के लिए यह सूरज के उगने और डूबने का एक सहज तथ्य था, न कि महाद्वीप और उसके नाम की कोई वास्तविक परिभाषा।

हमारे वैश्विक दक्षिण के सभी महाद्वीप औपनिवेशिक सोच से परिभाषित किए गए हैं। वे अपने-आप में पुराने और अलग इतिहास वाले नहीं हैं। हर जगह इंसानों द्वारा बनाई गई है। कोई भी जगह पूरी तरह प्राकृतिक नहीं है, चाहे वह एक द्वीप ही क्यों न हो। अगर एक द्वीप प्राकृतिक रूप से एक देश होता, तो द्वीपों के समूह को एक देश कैसे माना जाता

(जैसे इंडोनेशिया, जिसमें 17,504 द्वीप हैं) या एक ही द्वीप दो देशों में कैसे बँटता (जैसे हिस्पानियोला द्वीप जो डोमिनिकन गणराज्य और हैती में बँटा है)। कोई भी भौगलिक सीमा प्राकृतिक रूप से देश की सीमा नहीं बन जाती। किसी देश की सीमा मानव इतिहास और राजनीति के अलावा किसी दूसरी चीज़ से तय नहीं होती। यह सबक हर नया युद्ध सिखाता है, चाहे युद्ध हॉर्न ऑफ़ अफ्रीका में हो, यूक्रेन के स्टेपी में हो या फिलिस्तीन में।

एशिया उपनिवेशवाद-विरोधी है

यही कारण है कि हम एशिया के अर्थ की तलाश प्राचीन काल के किसी यूनानी शब्द में नहीं, बल्कि उसके आधुनिक इतिहास में करते हैं। इतिहास के उस दौर में, जब यह स्पष्ट हो गया था कि इस विशाल क्षेत्र के लोग एक बड़े उद्देश्य के लिए राजनीतिक एकता स्थापित करने को तैयार हैं।[6] यह एकता क्यों ज़रूरी थी? साम्राज्यवाद का मुकाबला करने के लिए। बल प्रयोग के उन तमाम साधनों का मुक़ाबला करने के लिए, जिनका इस्तेमाल उस ज़माने के उन्नत औद्योगिक राष्ट्र (ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका) इस विशाल भूभाग पर रहने वाले लोगों की ज़मीन और मेहनत को अपने हिसाब से नियंत्रित करने के लिए कर रहे थे। साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ इसी संघर्ष में 'भारत' का जन्म हुआ, 'चीन' का जन्म हुआ, 'इंडोनेशिया' का जन्म हुआ, 'फिलीपींस' का जन्म हुआ। दक्षिणपंथी राष्ट्रवादी इतिहास लेखन के तरीक़े – जिन्हें अक्सर इतिहासकारों के साथ राजनेता भी अपनाते दिखते हैं – पीछे मुड़कर देखते हैं और अपनी राष्ट्र-संबंधी कहानियों को प्राचीनकाल में वैध ठहराने की कोशिश करते हैं। लेकिन उनके विश्लेषण की शुरुआत ही ऐसी पुरानी कहानियों से होती है, जो राष्ट्र की आधुनिक अवधारणा से मेल नहीं खातीं, और अपने मूल अर्थों के विरुद्ध इस्तेमाल की जाती हैं। यह उनके लिए शायद इसलिए ज़रूरी है कि लोगों को लगे कि उनकी देशभक्ति और उनके राष्ट्रवाद की जड़ें बहुत पुरानी और गहरी हैं। पर वास्तव में देशप्रेम इतना पुराना और इतना स्वाभाविक नहीं है, और इसकी जड़ें प्राचीनकाल व नस्ल से क़तई जुड़ी नहीं हैं। इस विशाल भूभाग पर रहने वाले लोगों के लिए, राष्ट्रों का जन्म उत्पीड़क और निरंकुश सत्ता के ख़िलाफ़ संघर्ष में हुआ था। उस उत्पीड़न ने ही राष्ट्र के निर्माण की शर्तों को आकार दिया। इसके अलावा, ख़ुद लोगों ने उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्षों में, अपने राष्ट्रवाद के वास्तविक स्वरूप को परिभाषित किया। उन्होंने अपने इतिहास और अपने भूगोल को समझने की कोशिश की। फलस्वरूप कुछ जगहों पर ग़रीबों की भलाई में निहित राष्ट्रवाद पैदा हुआ, और

अधिकतर जगहों में मुट्ठी-भर लोगों के लिए मुनाफ़ा बटोरने की कुरूप व्यवस्था से आज़ादी, राष्ट्रवाद का नारा बना।

उदाहरण के लिए, ब्रिटिश उपनिवेशवाद के विरुद्ध स्वतंत्रता आंदोलन के संघर्ष में भारत की अवधारणा ने आकार लिया। और यही संघर्ष था जिसने भारतीय उपमहाद्वीप के सभी लोगों को एक धागे में पिरोने का काम किया।[7] एकीकरण की इस प्रक्रिया से यह समझ बनी कि सांस्कृतिक विविधता राष्ट्रीय एकता के लिए एक बाधा हो सकती है, लेकिन सांस्कृतिक या धार्मिक या भाषाई रूप से भिन्न राज्य उपनिवेशवाद के ख़िलाफ़ एक महासंघ के रूप में एकजुट हो सकते हैं। तमिल बोलने वाले लोग और बांग्ला बोलने वाले लोग ख़ुद को भारतीय के रूप में देखने लगे, इसलिए नहीं कि उनमें प्राचीन रूप से कोई सांस्कृतिक संबंध था। वे एक साथ आए थे उपनिवेशवाद के ख़िलाफ़ अपने एकीकृत संघर्ष के कारण और एक संघीय (Federal) गणराज्य के निर्माण के लिए। भारतीयता की पहचान के पक्ष में भले ही पुरानी परंपराओं का दावा किया जाता हो, लेकिन एक नए बहुराष्ट्रीय गणराज्य के स्वतंत्रता संग्राम से उपजी है। इसलिए भारतीय राष्ट्र, अस्तित्वगत नहीं प्रक्रियागत है। यानी यह एक प्रक्रिया के रूप में विकसित हुआ। और अधिकांश राष्ट्रों का उदय इसी तरह की प्रक्रियाओं से हुआ है, चाहे वे उतर या दक्षिण अमेरिका में हों या अफ्रीका और एशिया में।

यदि यह औपनिवेशिक विरोधी राष्ट्रवाद का मामला था, तो यह औपनिवेशिक विरोधी सर्वराष्ट्रवाद या महाद्वीपवाद का भी उतना ही मामला था। अखिल एशिया का विचार, अखिल अफ्रीकावाद, अखिल अरबवाद और लैटिन अमेरिका में 'पत्रिया ग्रांदे' का समानार्थी था। इन सभी विचारों का मूल अर्थ था ऐसे लोगों की राजनीतिक एकता जो साम्राज्यवाद द्वारा ग़ुलाम बनाए गए थे। अखिल अफ्रीकावाद उपनिवेशवाद के खिलाफ़ लड़ाई से पहले की अवधारणा नहीं है। पात्रिया ग्रांदे का विचार साम्राज्यवाद-विरोधी संवेदनशीलता से उपजा था। और अखिल अरबवाद औपनिवेशिक वर्चस्व से उत्पन्न अपमान की भावना से उपजा विचार था महाद्वीपीय (पूरे महाद्वीप के लोगों की एकजुटता) और वैश्विक एकता की ज़रूरत साम्राज्यवाद को हराने की गहरी लालसा से पैदा हुई थी। यही कारण था कि लोग साल 1919 में कॉमिन्टर्न (कम्युनिस्ट इंटरनेशनल) में भाग लेने के लिए दूर-दूर से मास्को पहुँचे थे। 1920 के कॉमिन्टर्न में एशियाई प्रतिनिधियों ने भी भाग लिया। एकता ही वह कारण था कि कई एशियाई क्रांतिकारी और राष्ट्रवादी 1927-1928 में ब्रुसेल्स में लीग अगेंस्ट इम्पीरियलिज्म की बैठक के लिए पहुँचे। यह स्पष्ट था कि 1914-1918 के महायुद्ध और ज़ार साम्राज्य में हुई क्रांति, जिसने सोवियत संघ का निर्माण किया था, ने साम्राज्यवादियों की

अजेयता पर प्रहार किया था। यह भी उतना ही स्पष्ट था कि लीग ऑफ नेशंस द्वारा किए गए स्वतंत्रता के वादों को न मान कर लोग मामला अपने हाथों में लेने को तैयार थे।

1919 में पेरिस में आयोजित पहली अखिल अफ्रीकी कॉन्फ्रेंस में यही समझ दिखाई दी।[8] ऐसा ही विचार शरीफ हुसैन का था, जिन्होंने 1916 में 'अरब देशों के राजा' की उपाधि मिलने के बाद अपनी जनता से अरब भूमि की स्वतंत्रता और एकता का आह्वान किया था।[9] अर्जेंटीना के मैनुअल उगार्ते ने इसी भावना के साथ 1924 में अपनी किताब 'ला पत्रिया ग्रांदे' लिखी थी, और साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ दक्षिण अमेरिका के स्पेनिश बोलने वाले क्षेत्रों के एकीकरण का आह्वान किया।[10] इसी भावना के साथ चीन के सन यात-सेन ने 1924 के अपने प्रसिद्ध भाषण में 'वृहत-एशियावाद' (Greater Asianism) का आह्वान किया था। वृहत-एशियावाद या सर्व-एशियावाद के आह्वान का क्या कारण था? सन यात-सेन ने कहा, 'हम एशिया की स्थिति को पुन: मज़बूत करने के लिए पैन-एशियावाद का समर्थन करते हैं।'[11] उपनिवेशवाद से पीड़ित दुनिया में एकता की सभी परियोजनाओं की प्रेरणा यही थी, चाहे वह अफ्रीका में हो, एशिया में हो, या लैटिन अमेरिका में। वे अपने क्षेत्रों की 'स्थिति को पुन: मज़बूत' करना चाहते थे। 20वीं सदी के उपनिवेशवाद-विरोधी, क्रांतिकारी युग से पहले कोई वास्तविक महाद्वीपीय या राष्ट्रीय आकांक्षा मौजूद नहीं थी।

गुलाम मोहम्मद शेख़, द मैप्पामुंडी सूट, 2003.

राख हो गया

औपनिवेशिक दुनिया में एकता की हर परियोजना का एक सतत इतिहास रहा है। अखिल अफ्रीकावाद आज भी जारी है, ठीक वैसे ही जैसे पत्रिया ग्रांदे और सर्व अरबवाद। आंतरिक तनाव और साम्राज्यवाद का दबाव इन सभी अवधारणाओं को पूर्ण रूप से साकार होने में बाधा डालते हैं, लेकिन ये विचार किसी न किसी रूप में अब भी बरक़रार हैं। अखिल एशियावाद इनसे अलग है। यह विचार जापान के विस्तारवाद के कारण जलकर राख हो गया। जापान ने अपनी 'ग्रेटर ईस्ट एशिया को-प्रॉस्पेरिटी स्फीयर' नीति के तहत एशियाई एकता की अवधारणा का इस्तेमाल एशिया के बड़े हिस्सों पर अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए किया। 1943 में, टोक्यो में ग्रेटर ईस्ट एशिया कॉन्फ्रेंस में जापान के प्रमुख उपनिवेशों के राष्ट्राध्यक्ष आए। वहाँ जापान के प्रधानमंत्री हिदेकी तोजो – जिन्हें आगे चलकर टोक्यो युद्ध अपराध मुक़दमों में क्लास-ए युद्ध अपराधी पाया गया और 1948 में फाँसी दी गई – ने एशिया की 'आध्यात्मिकता' की प्रशंसा की।[12] तोजो ने उसी तरह की भावनात्मक और रोमांटिक भाषा का इस्तेमाल किया, जो जापानी कला इतिहासकार काकुज़ो ओकाकुरा और भारतीय कवि रबींद्रनाथ टैगोर जैसे लोगों की पहचान थी। ओकाकुरा 1902 में कोलकाता में टैगोर के घर लगभग एक साल तक रहे थे।[13] यहीं पर ओकाकुरा ने 'द अवेकनिंग ऑफ एशिया' (1904) लिखी, और 'द आइडियल्स ऑफ द ईस्ट' (1903) लिखनी शुरू की थी। 'द आइडियल्स' की शुरुआत इस वाक्य से होती है कि 'एशिया एक है'। यह सब आकर्षक लगता था। लेकिन, 'द अवेकनिंग ऑफ जापान' (1904) में, ओकाकुरा ने कोरिया पर अपने देश जापान द्वारा किए गए क़ब्जे का समर्थन किया। उन्होंने लिखा कि जापान की कोरिया या मंचूरिया को लेकर कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं थी, 'अगर चीन और रूस ने कोरिया की स्वतंत्रता का सम्मान किया होता, तो कोई युद्ध नहीं हुआ होता'। यह उस युद्ध की काल्पनिक व्याख्या है। इसी किताब में ओकाकुरा ने जापान की प्रतिष्ठा पर दुख जताते हुए लिखा है कि '[हम] इतने उत्सुक हैं अपनी पहचान एशियाई के बजाय यूरोपीय सभ्यता से जोड़ने के लिए, कि हमारे महाद्वीप में हमारे पड़ोसी हमें देशद्रोही मानते हैं – बल्कि, श्वेत आपदा के अवतार के रूप में देखते हैं'।[14]

टैगोर 'श्वेत आपदा' से थक चुके थे—उस साम्राज्यवाद से, जो किसी ऊँचे आदर्श का रूप धारण किए हुए था—चाहे वह पश्चिमी सभ्यता का प्रभुत्व हो या जापानी संस्कृति का। जब

वे 1916 में जापान गए, तो टैगोर ने जापानी साम्राज्य के विस्तारवादी राष्ट्रवाद की आलोचना की। उन्हें कमज़ोर-दिल कहा गया। लेकिन टैगोर ने जापान में एक कोरियाई छात्र चोय नाम सुन के अनुरोध पर 'द सॉन्ग ऑफ द डिफीटेड' (पराजितों का गीत) शीर्षक एक कविता लिखी.

'मेरे स्वामी ने मुझे मार्ग के किनारे खड़े होकर
पराजय का गीत गाने को कहा है,
क्योंकि वही वह वधू है, जिसका वह गुप्त रूप से वरण करते हैं।
उसने गाढ़ा घूँघट ओढ़ लिया है,
भीड़ से अपना मुख छिपा लिया है,
किन्तु अँधेरे में भी उसके वक्ष पर जड़ा रत्न दमक रहा है।'

टैगोर ने यह कविता एक कोरियाई छात्र, चिन हक-मुन को दी, जो जापान में पढ़ रहे थे। चिन हक-मुन, जो बाद में एक जाने-माने लेखक बने, कला संग्राहक और बैंकर हारा तोमितारो के योकोहामा स्थित घर में टैगोर से मिलने आए थे। टैगोर के इस उपहार में एक अन्य प्रकार के अखिल एशियावाद की बात की गई थी। उन्होंने पराजितों की एकता पर ज़ोर दिया, जो एक दिन इस हार के बदले में अपने स्वयं के साम्राज्य नहीं बनाना चाहते, बल्कि उससे कहीं अधिक मूल्यवान कुछ स्थापित करने की उम्मीद करते हैं। हर इंसान के व्यक्तिगत और सबके पारस्परिक कल्याण के लिए लोगों के बीच एकजुटता स्थापित करने की उम्मीद। टैगोर का तर्क था कि पराजय शर्मनाक नहीं होती, बल्कि दूसरों को अपना गुलाम बनाना शर्मनाक है।

1917 में, टैगोर की 'नेशनलिज्म' प्रकाशित हुई, जिसमें उन्होंने लिखा, 'राष्ट्रवाद एक बड़ा ख़तरा है'।[15]उनका मतलब था कि राष्ट्र का यूरोपीय स्वरूप – जो सामाजिक एकता और औद्योगिक प्रगति के भ्रम से उपजा है – जापान और भारत जैसे देशों में अपनी विरासत को अपनाने को लेकर एक हिचक पैदा करेगा तथा 'सभ्यता के उधार के हथियारों' के सहारे छोड़ देगा। राजनीतिक स्वतंत्रता आवश्यक थी, सामाजिक ग़ैर-बराबरी को ख़त्म करना आवश्यक था, लेकिन अपने अतीत के प्रति और अपने पड़ोसियों से सीखने के प्रति एक उदार दृष्टिकोण रखना भी उतना ही आवश्यक था। टैगोर ने सुझाव दिया कि भारत को जातीय-भेदभाव की चुनौतियों से निपटने की ज़रूरत है। जैसे, उन्होंने कहा कि संयुक्त राज्य अमेरिका को नस्लवाद से निपटने की ज़रूरत है। लेकिन इसके साथ ही उन्होंने कहा कि भारत और अन्य एशियाई देशों को अपने भीतर सिमट नहीं जाना है, बल्कि मानव विकास की परियोजना को आगे बढ़ाने के लिए एक-दूसरे से सीखने की जरूरत है।

रबिंद्रनाथ टैगोर (भारत), बिना शीर्षक, 1932.

एक महान उद्देश्य

द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद, अखिल एशियावाद का सपना कुछ हद तक बरक़रार रहा। 1947 में एशियन रिलेशंस कॉन्फ्रेंस की शुरुआत में भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने एक नई परियोजना का आह्वान किया, जो जापानी साम्राज्य से बिल्कुल अलग थी। नेहरू ने कहा, 'हम किसी के ख़िलाफ़ नहीं हैं। हमारा महान उद्देश्य दुनिया भर में शांति और प्रगति को बढ़ावा देना है।16 जापानी प्रतिनिधि एक नई शुरुआत के लिए उत्सुक थे और 1947 में एशियन रिलेशंस कॉन्फ्रेंस में आना चाहते थे, लेकिन अमेरिकी क़ब्ज़े के कारण न आ सके। 1947 की एशियन रिलेशंस कॉन्फ्रेंस का 1955 के बांडुंग एशियाई-अफ्रीकी सम्मेलन और 1961 में बेलग्रेड में गुटनिरपेक्ष आंदोलन के गठन से सीधा ताल्लुक़ है।[17]1947 में एक 'एशियाई महासंघ' के आह्वान को दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों ने ठुकरा दिया; उन्होंने कुछ समय पहले ही जापानी विस्तारवाद का भयानक अनुभव झेला था। एशिया के अन्य देशों ने भी किसी न किसी अमेरिकी सैन्य गठबंधन (सेंटो और सीएटो) में शामिल होने के कारण उन्हें अपने हाल पर छोड़ दिया था। कोरिया, वियतनाम, मलाया और इंडोनेशिया के ख़िलाफ़ नई साम्राज्यवादी ताक़तों के क्रूरतापूर्ण युद्धों ने एशियाई एकता को शून्य पर पहुँचा दिया था। मलाया में कम्युनिस्ट विद्रोहियों के लिए ब्रिटिश यातना शिविरों की स्थापना, और कोरिया के उत्तर पर अमेरिका की व्यापक बमबारी ने पूरे एशिया में एक सख़्त संदेश दिया कि पुराने प्रतिष्ठित वर्ग और नए बुर्जुआ राष्ट्रवादी अपनी ही जनता के विरुद्ध पश्चिमी शक्ति की छत्रछाया में शरण लें। भारत और चीन के बीच, तथा पाकिस्तान और भारत के बीच सीमा संघर्षों के साथ-साथ दक्षिण-पूर्व एशिया में भी तनावों ने एकता के सपनों को दूर और धुँधला बना दिया।

इस संदर्भ में, 'एशिया' के बारे में सोचना नामुमकिन था। जहाँ क्वामे न्क्रुमा ने अखिल अफ्रीकावाद का समर्थन किया और गमेल अब्दुल नासिर ने अरब एकता को आगे बढ़ाने पर ज़ोर दिया, वहीं एशिया में कोई भी राजनीतिक ताक़त वैध रूप से अखिल एशियाई एजेंडा नहीं चला सकी। शीत युद्ध के दौरान बौद्धिक या राजनीतिक संसाधनों की ऐसी कोई व्यवस्था ही नहीं बनी, जिससे एक प्रगतिशील अखिल एशिया मंच विकसित किया जा सकता।[18]

और फिर अमेरिकी साम्राज्यवाद के विस्तार और शीत युद्ध के विघटनकारी प्रभाव ने किसी नए तरह के अखिल एशियावाद की संभावना को भी कमज़ोर कर दिया। अमेरिकी सत्ता की 'हब एंड स्पोक्स' प्रणाली ने सोवियत संघ और चीन को घेर लिया। इसने जापान, फिलीपींस,

पाकिस्तान और ईरान जैसे देशों को महज़ सैन्य अड्डों में बदल दिया। ये ऐसे आश्रित देश बन गए जिनके पास ख़ुद को आज़ाद कहने के लिए बस अपने झंडे थे। इन देशों में सत्ता के लिए पागल, पुरानी शक्तियाँ, ओकाकुरा के शब्दों में 'श्वेत आपदा' का संचालन कर रही थीं। बांडुंग के बाद जो कुछ भी नया स्थापित हो सकता था, वह चरमरा गया। सीमा युद्धों और व्यापार युद्धों ने एकता और प्रगति से ध्यान हटा दिया। क्वामे न्क्रुमा की दूरंदेशी एशियाई महाद्वीप पर महसूस नहीं की जा सकी। न्क्रुमा ने पाँच दशक पहले ही चेतावनी दी थी: 'यदि हम एकता की योजनाएँ नहीं बनाते और राजनीतिक संघ बनाने के सक्रिय क़दम नहीं उठाते, तो हम जल्द ही आपस में लड़ने-झगड़ने लगेंगे। और साम्राज्यवादी व औपनिवेशिक ताक़तें परदे के पीछे खड़ी होकर हमें एक-दूसरे का गला काटने के लिए उकसाएँगी, ताकि वे अफ्रीका में अपने शैतानी मकसद पूरे कर सकें।'[19] एशिया में ऐसी कोई वैचारिक समझ या राजनीतिक दिशा नहीं बनी, जो विभाजन के ख़िलाफ़ एकता के महत्त्व को आगे रखती।

अभिनव वी०के० सतीश, बिना शीर्षक, 2025.

नवीनीकरण

'टाइगर' देशों के उदय की व्याख्या करने के लिए एशियाई आध्यात्मिकता को केंद्र में रख कर एशियाई सांस्कृतिक श्रेष्ठता पर ज़ोर दिया जाता है। एशियाई आध्यात्मिकता का विचार सिंगापुर के बुद्धिजीवी किशोर महबूबानी ने दिया और 1990 के दशक में सिंगापुर के ली क्वान यू और मलेशिया के महाथिर मोहमद ने इसका समर्थन किया। यह एक सतही सिद्धांत था, जिसमें कोई वास्तविक आर्थिक तत्व नहीं था, और जो वैश्विक वस्तु-श्रृंखला की व्याख्या एशियाई मूल्यों के आधार पर करने का प्रयास करता था। इसका केंद्र पूर्वी एशिया था, जबकि दक्षिण, मध्य, पश्चिम और उत्तरी एशिया के बारे में साहित्य में उलझन का भाव दिखाई देता था। क्योंकि भारत में आधी आबादी ग़रीबी में जीवन जीती है—जो 70 करोड़ से अधिक लोग हैं। इस स्थिति के लिए कोई आध्यात्मिक/ सांस्कृतिक व्याख्या पर्याप्त नहीं होगी। 'एशियाई मूल्य' पर केंद्रित यह अवधारणा एशियाई टाइगर देशों के तीव्र विकास की एक ग़लत व्याख्या देती है। इस विचार में एशियाई एकता की कोई उम्मीद नहीं दिखती। वास्तव में, एशियाई एकता के बारे में इसमें कोई बात ही नहीं की गई थी।

एशिया के कुछ देशों को एकजुट करने के लिए कठोर व्यावहारिक नीतियां सामने आई हैं। 2018 में, यूएस सरकार ने घोषणा की कि उसका 'आतंकवाद के ख़िलाफ़ युद्ध' ख़त्म हो गया है और अब वह अपने दो मुख्य प्रतिद्वंद्वियों, चीन और रूस, पर ध्यान केंद्रित करेग़ा। अमेरिका इन देशों को 'लगभग समकक्ष' प्रतिस्पर्धी की तरह देखता है। चीन को घेरने के प्रयास में जारी नए शीत युद्ध ने एकता के नए मंच प्रदान किए हैं। जैसे भारत, सिंगापुर और जापान के बीच, जिनमें से भारत और जापान, ऑस्ट्रेलिया तथा अमेरिका के साथ 'क्वाड' का हिस्सा हैं। हालांकी 'स्क्वॉड' अब काफी हद तक क्वाड की जगह ले चुका है, जिसमें भारत के बजाय फिलीपींस शामिल है। लेकिन ये अवांछनीय मंच हैं; गठबंधन के रूप में ये मंच उन देशों के लिए उपलब्ध हैं जो डगमगा रहे अमेरिकी साम्राज्य का वर्चस्व एशिया में क़ायम रखना चाहते हैं। इस प्रक्रिया में अपेक्षाकृत छोटे स्तर की एकजुटता – जैसे उत्तर व दक्षिण कोरिया के बीच बातचीत – भी वर्जित है। इसके तहत जापान और दक्षिण कोरिया को पश्चिम के ग्राहक देश बने रहना होगा। उन्हें, चीन को घेरने की रणनीति में विमानवाहक पोत के रूप में काम करते रहना होगा। इस प्रक्रिया में 'एशिया' के लिए कोई संभावना नहीं है। संभावना है, तो सिर्फ़ ग़रीबी और युद्ध की।

2003 के अवैध इराक युद्ध और 2007 के वैश्विक वित्तीय संकट के बाद अमेरिकी वर्चस्व चरमराता दिखने लगा। इस स्थिति ने ब्रिक्स (BRICS) परियोजना के लिए जगह बनाई। यह एक ऐसा मंच है जिसने बहुपक्षीय व्यवस्था की आवश्यकता पर ज़ोर देना शुरू किया, ऐसे समय में, जब एकध्रुवीय व्यवस्था स्पष्ट रूप से फेल होती दिख रही थी। लेकिन ब्रिक्स मुख्य रूप से एक व्यावसायिक मंच है, जिसे दुनिया के बड़े उत्पादकों को अटलांटिक बाज़ारों से दूर रखने के लिए बनाया गया था, क्योंकि अब ये बाज़ार अंतिम ख़रीदार नहीं रह गए हैं। ब्रिक्स का राजनीतिक दृष्टिकोण अभी पूरी तरह विकसित नहीं हुआ है; अभी यहाँ किसी प्रकार के 'दक्षिणी पुनर्जागरण' या वैश्विक दक्षिण की एक साझा तस्वीर बनाने हेतु क्षेत्रीय, महाद्वीपीय एकता बढ़ाने का कोई बड़ा सपना नहीं देखा जा रहा है। महाद्वीपीय या क्षेत्रीय आधार पर एकता की भावनाएँ रह-रहकर उभरती ज़रूर हैं। पर ये भावनाएँ अभी कमज़ोर हैं।

इजरायली नरसंहार ने अंतर-राज्यीय स्तर पर अरब एकता को गहरा घाव पहुँचाया है (इजराइली अत्याचार को लेकर अरब लीग चुप रहा)। 2011 में लीबिया पर नाटो के युद्ध के बाद अखिल अफ्रीकावाद को भी झटका लगा। लेकिन इसके बीज बुर्किना फासो, माली और नाइजर के बीच 'अलायंस ऑफ साहेल स्टेट्स' (AES) नामक नए गठबंधन के रूप में फिर फूट रहे हैं। लैटिन अमेरिका में अर्जेंटीना से लेकर अल सल्वाडोर तक चरम दक्षिणपंथी ताक़तों के उभार ने निश्चित रूप से पत्रिया ग्रांदे के आह्वान को नुक़सान पहुँचाया है, पर यह विचार प्रतिकूल स्थिति में फिर से संगठित होने की कोशिश कर रहे सामाजिक आंदोलनों में आज भी ज़िंदा है।

एशिया के लिए, यूएस द्वारा थोपा गया नया शीत युद्ध एक अहम चुनौती है, जो चीन को जापान और फिलीपींस, कोरियाई प्रायद्वीप और दक्षिण एशिया से अलग करता है। बावजूद इसके, यह जानना महत्त्वपूर्ण है कि भारत के विदेश मंत्री एस. जयशंकर, जो चीन में पूर्व राजदूत रह चुके हैं, ने कहा है कि भारत 'नाटो मानसिकता' का समर्थन नहीं करता। यह क़दम 1950 के दशक में नेहरू द्वारा अमेरिकी सैन्य समझौतों, सिएटो (1954) और सेंटो (1955) को ठुकराने के रुख की पुनरावत्ति है। इसी तरह, चीन के विदेश मंत्री वांग यी, जो जापान में पूर्व राजदूत रह चुके हैं, ने खुलकर एशियावाद का समर्थन किया है। यह विचार हमें ली दज़ाओ और सन यात-सेन से मिले हैं। ये मूल स्रोत की ओर लौटने की प्रक्रियाएँ हैं, जिनका विस्तार से विवेचन आवश्यक है।

जड़ों की ओर

हमें अपने इतिहास में गहरे उतरने की जरूरत है, ताकि एशिया के उन पुराने सपनों को फिर से खोज सकें जो लगभग सौ साल पहले विश्व इतिहास में उभरे थे।

क. समाजवादी एशिया

तथ्यों पर टिकी कहानी 1904 से शुरू होनी चाहिए, जब दुनिया भर में यह ख़बर फैलने लगी कि जापान ने — एक एशियाई मुल्क ने — रूस के ज़ार की फ़ौजों को हरा दिया है। उस रूस को, जिसे उन दिनों पूरी तरह यूरोपीय देश समझा जाता था। इस सैनिक पराजय ने न केवल पूरे एशिया के नौजवानों को हिम्मत दी कि वे साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ अपनी-अपनी बग़ावतों के बारे में सोचें, बल्कि इसने रूस की जनता को भी सबक़ दिया कि वे राजशाही से मुक्त हों। मोहनदास करमचन्द गांधी दक्षिण अफ़्रीका में रहते हुए उत्तरी एशिया और रूस की घटनाओं को बड़ी दिलचस्पी से देख रहे थे। उन्होंने 'इण्डियन ओपिनियन' में लियो तॉल्स्तॉय और मैक्सिम गोर्की पर कई लेख लिखे। इसके साथ ही उन्होंने इस बारे भी लिखा कि जापान की रूस पर विजय और 1905 की रूसी क्रान्ति का भारत के लिए क्या अर्थ है। नवम्बर 1905 में गांधी ने लिखा:

> 'रूस में जो वर्तमान अशान्ति है, उसमें हमारे लिए एक बड़ा सबक़ है। रूस का ज़ार आज संसार में सबसे निरंकुश सत्ता चला रहा है। रूस के लोग अनगिनत कठिनाइयाँ झेल रहे हैं। ग़रीबों को क़र्ज़े के बोझ तले कुचला जाता है; सिपाही जनता को दबाते हैं, और जनता को ज़ार की हर सनक सहनी पड़ती है। सत्ता के नशे में चूर अफ़सरों को जनता की भलाई से कोई सरोकार नहीं। उनका एकमात्र काम, उनकी समझ में, अपनी ताक़त और दौलत बढ़ाना है। जनता की इच्छा के पूरी तरह विरुद्ध, ज़ार ने जापान के ख़िलाफ़ युद्ध छेड़ दिया, जिसमें रूसी सैनिकों के ख़ून की नदियाँ बहीं। हज़ारों मज़दूरों के पसीने से कमाई गई दौलत जापान के समुद्र में बहा दी गई।'

लेकिन गांधी के अनुसार रूसियों ने हत्या और छिटपुट बग़ावत की पुरानी तरकीबें नहीं अपनाईं (जो अक्सर ज़ार के नाम पर ही की जाती थीं)। इसके बजाय, 'रूसी मज़दूरों और तमाम दूसरे कर्मचारियों ने आम हड़ताल का ऐलान कर दिया और सारा काम रोक दिया।' उनके अनुसार 1905 की रूसी क्रांति का सार यह था कि ज़ार को भी कुछ माँगें माननी पड़ीं, क्योंकि 'ताक़तवर से ताक़तवर शासक

भी शासितों के सहयोग के बिना शासन नहीं कर सकता।'[20] 1905 की रूसी क्रांति में बरसों से दबाए गए जनता के सभी वर्ग व्यवस्था के ख़िलाफ़ आंदोलन में उतर आए। इनमें काला सागर के नाविकों से लेकर रूस-जापान युद्ध के मोर्चे से लौटे हताश सैनिक तथा शहरी मज़दूरों से लेकर किसान सब शामिल थे। रूस पर जापान की विजय और ज़ार के विशाल तन्त्र के विरुद्ध रूसी जनता के उभार — इन दोनों के संयोग ने औपनिवेशिक दुनिया में एक सिहरन पैदा की। इसके बारे में जवाहरलाल नेहरू, जो तब किशोर थे, ने लिखा, 'जापान की जीत ने मेरे उत्साह को जगा दिया, और मैं रोज़ ताज़ा ख़बरों के लिए बेसब्री से अख़बारों का इन्तज़ार करता था। मैंने जापान पर ढेर सारी किताबें ख़रीदीं और उनमें से कुछ पढ़ने की कोशिश भी की... राष्ट्रवादी विचारों ने मेरे मन को भर दिया। मैं भारत की आज़ादी और एशिया की यूरोपीय दासता से मुक्ति के सपने देखता था। मैं बहादुरी के कारनामों के सपने देखता था कि कैसे तलवार हाथ में लेकर मैं भारत के लिए लड़ूँगा और उसे आज़ाद कराने में मदद करूँगा।'[21]

लेनिन उन दिनों रूस से बाहर निर्वासन में थे। वे रूसी क्रांति के अलावा औपनिवेशिक दुनिया में जारी तमाम राजनीतिक उथल-पुथल, जैसे उस्मानी साम्राज्य के पतन से प्रेरित फ़ारस में मजलिस आंदोलन (1906-1908 का), तुर्क क्रांति (1908), और बाल्कन में क्रांतिकारी घटनाक्रम पर भी ध्यान दे रहे थे। 'एशियाई जनता के राजनीतिक जागरण को रूस-जापान युद्ध और रूसी क्रांति ने ज़बरदस्त ताक़त दी है,' लेनिन ने लिखा। लेकिन यह इतनी सुस्त रफ़्तार से आगे बढ़ी, इसने प्रतिक्रियावादी ताक़तों को इकट्ठा होने का मौक़ा दे दिया। 'असल में, जो हम अभी बाल्कन, तुर्की और फ़ारस में देख रहे हैं वह यूरोपीय शक्तियों का एशिया में उठती जनवाद की लहर के ख़िलाफ़ एक प्रतिक्रांतिकारी गठबन्धन है,' लेनिन ने कहा।[22] लेकिन उपनिवेश के लोगों को ज़्यादा देर रोका नहीं जा सकता था। 1911 में दो क्रांतियों ने, दो महाद्वीपों पर, राष्ट्रीय मुक्ति और मज़दूरों-किसानों की ताक़त दिखाई: मैक्सिको की क्रांति और चीन की क्रांति। मई 1913 में लेनिन ने लिखा: 'विश्व पूँजीवाद और रूस में 1905 के आन्दोलन ने अन्ततः एशिया को जगा दिया है। करोड़ों कुचले हुए और अँधेरे में जी रहे लोग मध्ययुगीन आलस से जागकर एक नई ज़िन्दगी के लिए उठ खड़े हुए हैं और बुनियादी मानवाधिकारों और जनवाद के लिए लड़ रहे हैं,' और संघर्ष के इस भूगोल में 'ब्रिटिश भारत में बढ़ता तनाव' तथा डच इण्डीज़ का 'क्रान्तिकारी-जनवादी आंदोलन' भी शामिल थे।[23] एशिया जाग चुका है, लेनिन ने लिखा, 'सभी सभ्य देशों का सर्वहारा वर्ग एशिया के नौजवानों, यानी एशिया के करोड़ों मेहनतकश लोगों, के लिए भरोसेमन्द साथी है। धरती पर कोई ताक़त इनकी जीत नहीं रोक सकती, वह जीत जो यूरोप की जनता और एशिया की जनता दोनों को मुक्त करेगी।'[24]

राष्ट्रीय मुक्ति और मार्क्सवाद की इस परम्परा से निकले अन्तर्राष्ट्रीयतावाद में, अखिल-एशियावाद की ज़रूरत को निम्नलिखित रूप से समझा गया: इसमें एक नई दुनिया, समाजवादी दुनिया, बनाने

की दिशा में औपनिवेशिक केन्द्र के मज़दूर वर्ग के साथ बड़े गठबंधन करने की और दुनिया के दूसरे औपनिवेशिक हिस्सों की जनता के साथ मिलकर काम करने की जगह हो। यहाँ नस्लवाद की कोई गुंजाइश नहीं थी, न किसी भी तरह के बहिष्कार की। यह एक शक्तिशाली कल्पना थी, अखिल-एशियावाद का उद्देश्य दुनिया पर एशिया का वर्चस्व स्थापित करना नहीं बल्कि पूरी मानवता के हित में काम करना था। उपनिवेशित दुनिया में जारी राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों के नेताओं में यह सोच दिखाई देती है, जैसे हो ची मिन्ह, एम. एन. राय, तान मलाका, दॉ म्या सीन, इचिकावा फ़ूसाए, आइना सुल्तानोवा, और नाज़िया हानुम। इनमें से कुछ नामों को हम औरों से ज़्यादा जानते हैं (और इनमें से कई नेताओं की जीवनियाँ, ख़ासकर महिला लीडरों की जीवनियाँ, अभी लिखी जानी बाकी हैं)। इन सभी नेताओं ने ख़ुद को अधिक से अधिक सच्चे जनतान्त्रिक समाज बनाने के काम में लगाया था। इन्हीं आकांक्षाओं से निकल कर समाजवादी और अराजकतावादी 'एशियाटिक ह्यूमैनिटेरियन ब्रदरहुड' (1907) अस्तित्व में आया, और अन्ततः कम्युनिस्ट इंटरनेशनल (1919), और बाद में पैन-पैसिफ़िक महिला सम्मेलन (हवाई, 1928) और अखिल-एशियाई महिला सम्मेलन (लाहौर, 1931) हुए।[25]

इन कम्युनिस्टों को समझ में आ चुका था कि उपनिवेशवाद ख़त्म करने और सम्प्रभुता हासिल करने की माँग दो मुख्य सवालों तक ले जाएगी: नया राज्य अपने आन्तरिक भेदभाव और विषमताओं से कैसे पेश आएगा, और वह नया देश अपने पड़ोसियों और बाक़ी दुनिया से कैसा रिश्ता रखेगा। एक सच्चा उपनिवेशवाद-विरोधी और सम्प्रभु राज्य अंदरूनी भेदभाव को ख़त्म करने की कोशिश करेगा और इसलिए समाजवाद की दिशा में आगे बढ़ेगा, और वह अन्धराष्ट्रवाद की किसी भी पुकार को ठुकराकर अपने पड़ोसियों और बाक़ी दुनिया के साथ संबंध बनाएगा। दूसरे शब्दों में, अन्धराष्ट्रवाद के ख़िलाफ़ विद्रोह ही इस क़िस्म के अखिल-एशियावाद की बुनियाद होगा, और इसीलिए वह सम्पूर्ण मानवता की प्राप्ति के लिए आधार-शिला बनेगा।

ख. जापानी एशिया

राजा महेन्द्र प्रताप सिंह एक रहस्यमय शख़्सियत थे जो 1917 की रूसी क्रांति से प्रेरित थे और जिन्हें अखिल-एशियावाद की सम्भावनाओं पर बहुत विश्वास था। 1919 में उन्होंने पेत्रोग्राद में लेनिन के अध्ययन-कक्ष में उनसे भेंट की। इसके बाद वे जापान गए, जहाँ उन्होंने 1926 में नागासाकी में आयोजित पहली कॉन्फ्रेन्स ऑफ एशियन पीपल्स में भाग लिया। इस सम्मेलन का आयोजन जापान में 1924 में गठित ऑल एशिया सोसाइटी ने किया था। हालाँकि सम्मेलन में भागीदारी ज़्यादा नहीं थी, लेकिन इसने कुछ बड़ी माँगें रखीं: जैसे एक एशियाई बैंक बनाने, एक एशियाई मीडिया शुरू करने,

एक एशियाई विश्वविद्यालय बनाने की माँग, और सबसे प्रमुख — यूरोपीय उपनिवेशवाद से एशिया की रक्षा के लिए एक अखिल-एशियाई लीग बनाने की माँग। ये व्यापक उद्देश्य लेनिन और कम्युनिस्टों को आकर्षित करते, जैसे उन्होंने सिंह और उनके जैसे अन्य लोगों—जैसे जापानी कम्युनिस्ट पत्रकार ओज़ाकी होत्सुमी, जिन्हें 1944 में जापानी राज्य द्वारा सोवियत जासूस के रूप में मृत्युदंड दिया गया—को आकर्षित किया था।

इन सब घटनाओं के पीछे एक नए क़िस्म के जापान का उभार था। मेइजी पुनर्स्थापना और जापान में पूँजीवाद के आगमन के बाद, उसके उद्योगों का विस्तार उसकी सीमाओं से बाहर फैल गया और — दूसरी पूँजीवादी ताक़तों (जैसे यूरोपीय देशों और अमेरिका) की तरह — जापान ने अपनी प्रतिस्पर्धात्मकता और गतिशीलता बनाए रखने के लिए बाहरी उपनिवेश तलाशने शुरू किए। जापानी क़ब्ज़ों का इतिहास उन्नीसवीं सदी तक जाता है, लेकिन इसकी ज़्यादा उचित शुरुआत उसी युद्ध के आसपास से मानी जा सकती है जिसका वामपन्थियों ने स्वागत किया था — यानी जापान की रूस पर विजय। उस युद्ध ने वामपन्थियों को यह अहसास कराया कि साम्राज्यवाद को हराया जा सकता है, लेकिन जापानी साम्राज्यवादी राज्य के कुछ हिस्सों ने इससे बिलकुल उलटा सबक़ लिया: कि वे एशिया के बड़े-बड़े हिस्से हड़प सकते हैं। इस दमन की शुरुआत 1904 से 1910 के बीच कोरिया के औपचारिक विलय से हुई, जो आगे चलकर उत्तरी चीन पर आक्रमण और 1931 में जापानी कठपुतली राज्य मांचूकुओ की स्थापना तक पहुँचा। तमाम जापानी बुद्धिजीवी, और कुछ दूसरी जगहों के बुद्धिजीवी भी, यह मानने लगे कि अखिल-एशियावाद ताइशो 14 मशीनगन से स्थापित होगा, न कि जनता के संयुक्त संघर्षों से जो सम्प्रभु देश बनाकर आपस में मिलकर काम करें।

अखिल-एशियावाद की यह धारा, जिसे जापानी साम्राज्यवादी राज्य का समर्थन प्राप्त था, नवम्बर 1943 में टोक्यो में आयोजित 'ग्रेटर ईस्ट एशियाटिक नेशन्स' की सभा में अपने न्यूनतम पर पहुँच गयी । यहीं प्रधानमन्त्री जनरल हिदेकी तोजो ने 'ग्रेटर ईस्ट एशिया को-प्रॉस्पेरिटी स्फ़ीयर' के गठन की घोषणा की। यह नीति सह-समृद्धि के विचार का भद्दा मज़ाक़ थी, और दरअसल जापानी साम्राज्यवाद का औज़ार थी।26 अन्तर्राष्ट्रीय वर्ग-संघर्ष सीधा और साफ़ रास्ता नहीं है, और यही वजह है कि कई अहम एशियाई राजनीतिक नेता – जैसे भारत के नेताजी सुभाष चन्द्र बोस तथा इण्डोनेशिया के सनूसी पाने और अस्मारा हादी – यूरोपीय औपनिवेशिक शक्ति के ख़िलाफ़ जापानी ताक़त का इस्तेमाल करना चाहते थे। उनकी सोच थी कि पहले यूरोपियों को निकालो, और फिर बाद में अपने इन साथियों से हिसाब कर लेंगे। न बोस और न ही पाने-हादी ब्रिटिश और डच शासन की जगह जापानी शासन चाहते थे, लेकिन उन्होंने इस नई एशियाई सैन्य ताक़त को एक सम्भावित सहयोगी के रूप में देखा — चीन और कोरिया पर जापान के युद्धकालीन अत्याचारों के बावजूद। उन्होंने टैगोर की चेतावनियों को राजनीति और वर्ग-संघर्ष की कठोर वास्तविकताओं के लिए दरकिनार कर दिया।

लेनिन और नेहरू ने समाजवादी एशिया की सम्भावना का जो सपना देखा था वह जापानी सेना के फ़ासीवादी उभार की वास्तविकता में ध्वस्त हो गया। लेकिन जापानी साम्राज्यवाद समाजवादी क़िस्म के एशियावाद की सम्भावना को नष्ट नहीं कर सका। वह फिर से प्रकट हुआ — एशियाई सम्बन्ध सम्मेलन (दिल्ली, 1947) में और एशियाई-अफ़्रीकी सम्मेलन (बांडुंग, 1955) में — जिनका एजेंडा वस्तुतः साम्राज्यवाद की नस्ली श्रेष्ठता के पूरी तरह ख़िलाफ़ था (चाहे वह यूरोपीय हो या जापानी)। जापानी साम्राज्यवाद के अवशेष अभी पूरी तरह ख़त्म नहीं हुए हैं, लेकिन वे अखिल एशियावाद की संभावनाओं को पूरी तरह समाप्त नहीं कर पाए। अपने मूल में, अखिल एशियावाद की समाजवादी सोच, 'ग्रेटर ईस्ट एशिया को-प्रॉस्पेरिटी स्फीयर' की परियोजना की तुलना में बौद्धिक और नैतिक रूप से अधिक मज़बूत थी।

शाज़िया सिकंदर, तेल और अफ़ीम के फूल, 2019-20.

नोट्स

1. Xinru Liu, Ancient India and Ancient China: Trade and Religious Exchanges, AD 1-600 (Delhi: Oxford University Press, 1988) and Tansen Sen, Buddhism, Diplomacy, and Trade: The Realignment of Sino-Indian Relations, 600-1400 (Delhi: Manohar Publishers, 2004).

2. K. S. Singh, People of India (Calcutta: Anthropological Survey of India, 1992).

3. René Grousset, L'empire des steppes: Attila, Gengis-Khan, Tamerlan (Paris: Payot, 1939).

4. एशिया की इस व्यापक और जीवंत कल्पना को समझने की कोशिश में हाल के वर्षों में कुछ बेहद महत्वपूर्ण किताबें सामने आई हैं। इन किताबों की खास बात यह है कि ये एशिया को केवल एक औपनिवेशिक नजरिए से नहीं, बल्कि एशियाई बुद्धिजीवियों, इतिहासों और अनुभवों के आधार पर देखने की कोशिश करती हैं। खास तौर पर देखें— Nile Green, How Asia Found Herself, New Haven: Yale University Press, 2022; Eric Tagliacozzo, In Asian Waters. Oceanic Worlds from Yemen to Yokohama, Princeton: Princeton University Press, 2022; Wang Hui, 'The Twentieth Century, the Global South, and China's Historical Position' (Dossier no. 81, October 2024) [https://thetricontinental.org/dossier-the-twentieth-century-the-global-south-and-chinas-historical-position/]

5. Tanehisa Otabe, 'Making a Case for a Cultural Exchange of Aesthetics between Europe and Japan: The Three Stages of Cultural Globalisation', The Journal of Asian Arts & Aesthetics, vol. 2, 2009.

6. वभिन्नि दृष्टकिोणों से आई नई कतिाबों की एक पूरी श्रृंखला, फरि भी, इस बात को ठोस और प्रमाणकि तरीके से सामने रखती है। उदाहरण के लिए देखें— Sugata Bose, Asia after Europe. Imagining a Continent in the Long Twentieth Century, Cambridge: Harvard University Press, 2024; Viren Murthy, Pan-Asianism and the Legacy of the Chinese Revolution, Chicago: University of Chicago Press, 2023; Craig A. Smith, Chinese Asianism, 1894-1945, Cambridge: Harvard University Press, 2021; Pan-Asianism in Modern Japanese History: Colonialism, Regionalism, and Borders, ed. Sven Saaler and J. Victor Koschmann, London: Routledge, 2007.

7. Sunil Khilnani, The Idea of India, London: Hamish Hamilton, 1997; Sitaram Yechury, Praxis of a Socialist, ed. Sudhanva Deshpande and Vijay Prashad, New Delhi: LeftWord Books, 2025.

8. Hakim Adi, Pan-Africanism: A History, New York: 1804 Books, 2023.

9. George Antonius, The Arab Awakening: The Story of the Arab National Movement, London: Hamish Hamilton, 1938.

10. Manuel Ugarte, La patria grande, Madrid: Editora Internacional, 1924.

11. Sun Yat-sen, 'Pan-Asianism', Pan-Asianism: A Documentary History, Volume 2: 1920-Present, eds. Sven Saaler and Christopher W. A. Szpilman, Lanham: Rowman & Littlefield, 2011, p. 84.

12. W. G. Beasley, The Rise of Modern Japan, New York: St. Martin's Press, p. 206.

13. Indra Nath Choudhuri, 'The Conflict between the Other Asia and the New Asia: Rabindranath Tagore, Liang Qichao and Kakuzo (Tenshin) Okakura and the Politics of Friendship and a Love Story', Indian Literature, vol. 60, no. 3, May/June 2016.

14. उनकी लिखी हुई चीज़ों को 1984 में टोक्यो के हेइबोंशा ने तीन भागों में इकट्ठा करके छापा। उनके राजनीतिक और कला से जुड़े काम और उनके असर पर एक ही बड़ा अध्ययन है, जिसे कला इतिहासकार तोराओ मियागावा ने लिखा था और जो 1956 में जापानी में प्रकाशित हुआ था।.

15. Rabindranath Tagore, Nationalism (London: MacMillan, 1917).

16. Vineet Thakur, 'An Asian Drama: The Asian Relations Conference, 1947', The International History Review, vol. 41, issue 3, 2019.

17. Vijay Prashad, The Darker Nations, (New Delhi: LeftWord Books, 2007).

18. यह एक विवादास्पद कथन है, जो युद्ध के तुरंत बाद के वर्षों में बुद्धिजीवियों द्वारा एक नए तरह के एशियावाद को गढ़ने की महत्वपूर्ण कोशिशों को ढक देता है। इनमें एक अहम आवाज़ जापानी चीन-विशेषज्ञ योशिमी ताकेउची की थी, जिनकी 1963 की किताब एशियनिज़्म में पहले के दौर के अखिल एशियावाद के कुछ असर दिखाई देते हैं। उनकी लिखाई को समझने के लिए देखें— What is Modernity? Writings of Takeuchi Yoshimi, ed. Richard Calichman (New York: Columbia University Press, 2005).

19. Kwame Nkrumah, 'African Socialism Revisited', African Forum, issue 1, 1967, p. 9.

20. M. K. Gandhi, 'Russia and India', Indian Opinion, 11 November 1905, Collected Works, volume 5, pp. 131-132.

21. Jawaharlal Nehru, Towards Freedom, New York: John Day Company, 1942, pp. 29-30. इस आकर्षण की एक शुरुआती झलक मिलती है, जिसकी जड़ें मेइजी पुनर्स्थापन (जापान में 1868 के बदलाव) तक जाती हैं। यह बात भारतेंदु हरिश्चंद्र की एक कविता में भी दिखती है, जहाँ उन्होंने लिखा था कि भारत 'कमज़ोर और पिछड़े' जापान की भी बराबरी नहीं कर सकता, भारतेंदु समग्र, वाराणसी: प्रचारक ग्रंथावली परियोजना, 1987, पृष्ठ 253–254। कुछ दशक बाद, कांग्रेस नेता जी. सुब्रमणिया अय्यर ने अपने साथियों से कहा कि वे मेइजी पुनर्स्थापन को ध्यान से देखें, क्योंकि यह 'भारतीय आर्थिक सोच के नेताओं के लिए बहुत महत्वपूर्ण' था। वहीं, गोखले और रोमेश दत्त जैसे अन्य नेताओं ने इसे अपनाने लायक एक उदाहरण के रूप में सुझाया। Bipan Chandra, The Rise and Growth of Economic Nationalism in India (New Delhi: People's Publishing House), 1991, p. 114.

22. V. I. Lenin, 'Events in the Balkans and in Persia', Proletary, no. 37, October 1908. Collected Works, vol. 15, pp. 220-221.

23. Lenin, 'The Awakening of Asia', Pravda, 7 May 1913, Collected Works, vol. 19, p. 86.

24. Lenin, 'Backward Europe and Advanced Asia', Pravda, 18 May 1913, Collected Works, vol. 19, p. 100.

25. Sumita Mukherjee, 'The All-Asian Women's Conference 1931: Indian women and their leadership of a pan-Asian feminist organisation', Women's History Review, vol. 26, issue 3, 2017.

26. Jessamyn R. Abel, The International Minimum. Creativity and Contradiction in Japan's Global Engagement, 1933-1964 (Honolulu: University of Hawai'i Press), 215, pp. 194-217.

Tricontinental: Institute for Social Research
is an international, movement-driven institution focused on stimulating intellectual debate that serves people's aspirations.

www.thetricontinental.org